मई
१९५५

मूल्य छः आने

नेशनल प्रिंटि

दो शब्द

प्राचीन हिन्दी साहित्य के सम्वन्ध में खोजें जितनी अधिक होती जा रही हैं, और हिन्दी प्रान्तों के अन्तर्गत वोलियों का महत्त्व जितना वढ़ता जा रहा है, उसका क्षितिज भी उतना ही अधिक वढ़ता जा रहा है, इसलिए हिन्दी के प्राचीन साहित्य से जव कमोवेश केवल उत्तर प्रदेश की वोलियों के साहित्य का ही वोध होता था, तव से इस समय के शोध-युग में मूल्यों का कुछ वदलना स्वाभाविक है। उदाहरणस्वरूप प्राचीन हिन्दी साहित्य के जो नवरत्न माने गये, उसमें विद्यापति जैसे कवि को स्थान नहीं मिला, फिर भी उनका प्रभाव विहार के अतिरिक्त वंगाल, आसाम और उड़ीसा में भी रहा। यहाँ तक कि वंगाली उन्हें अपना आदिकवि मानते रहे।

पर प्राचीन साहित्य के तुलनात्मक मूल्यांकन में जो भी धारणा वदले, सूरदास का स्थान हिन्दी साहित्य में वहुत ही ऊँचा रहेगा। इसलिए यह आशा की जाती है कि उनके सम्वन्ध में हिन्दी के पाँच अधिकारी विद्वानों के इन रेडियो भाषणों का स्वागत किया जायगा। लेखकों के मत उन्हीं के समझे जाएं।

विषय-सूची

: १ :

जीवन-परिचय

श्री प्रभुदयाल मीतल

हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य महात्मा सूरदास ने इस जगती-तल पर प्रकट होकर साहित्य, संगीत और कला को अपूर्व प्रकाश प्रदान किया था, किन्तु आश्चर्य और खेद की बात है कि ऐसे महापुरुष का जीवन-वृत्तान्त पूर्णतया ज्ञात नहीं है। अब से प्रायः २० वर्ष पूर्व तक सूरदास की अधिकांश जीवन घटनाएं अज्ञानांधकार से आच्छादित थी । उनके जीवन की जो थोड़ी-बहुत बातें उस समय प्रकट थी, उन पर भी बिल्वमंगल आदि अन्य सूरदासों की जीवन-घटनाएं इस प्रकार छाई हुई थी कि उनका वास्तविक जीवन-वृत्तान्त अप्रामाणिकता के निविड़ अंधकार में कठिनता से दृष्टिगोचर होता था ।

इधर कुछ वर्षों से सूर-साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन हो रहा है। इस प्रकार का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने सूरदास की रचनाओं के अन्तस्साक्ष्य एवं समकालीन और परवर्ती रचयिताओं के बहिर्साक्ष्य का विश्लेषण कर सूरदास के जीवन की अनेक घटनाएं निश्चित की है। इन विद्वानों की नवीनतम शोध के आधार पर सूरदास का जीवन परिचय उपस्थित किया जा रहा है।

अब से ४७४ वर्ष पूर्व सं० १५३५ की वैशाख शु० ५ को सूरदास का जन्म हुआ था । उनका जन्मस्थान वल्लभगढ का निकटवर्ती सीही नामक ग्राम है। वहाँ के एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के वे चतुर्थ पुत्र थे। उनकी वंश-परम्परा, उनके वंशधर, माता-पिता और कुटुंबीजनों का विशेष वृत्तान्त उपलब्ध नही है, यहाँ तक कि उनके माता-पिता और भ्राताओं के

नाम तक अज्ञात है। कुछ लेखकों ने अकबर बादशाह के दरबारी गायक बाबा रामदास को सूरदास का पिता बतलाया है, किन्तु उनका यह मत अब अप्रामाणिक सिद्ध हो गया है।

सूरदास नेत्रविहीन थे, यह निर्विवाद है। किन्तु वे जन्मांध थे अथवा बाद में अंधे हुए, यह विवादग्रस्त है। सूरदास के काव्य में दृश्य जगत का ऐसा यथार्थ और सर्वांगपूर्ण वर्णन मिलता है, जैसा आँखों से देखे बिना किसी कवि द्वारा संभव ज्ञात नही होता। इसीलिये आजकल के अनेक विद्वान सूरदास की जन्मांधता पर विश्वास नही करते, अन्यथा उनके पास जन्मांधता के विरुद्ध कोई ठोस प्रमाण नही है। गो० हरिराय जी, जिन्होंने सर्वप्रथम सूरदास का विस्तृत वृत्तान्त लिखा है, सूरदास को जन्मांध मानते हैं।

हरिराय जी के कथन से ज्ञात होता है कि घर की दरिद्रता के कारण जन्मांध सूरदास अपने माता-पिता के लिये भारस्वरूप समझे जाते थे, अतः स्वाभाविक मातृपितृस्नेह से भी वे वंचित रहे। घर वालों के व्यवहार से असंतुष्ट होकर वे अपनी बाल्यावस्था में घर से निकल पड़े, और लाठी टेकते हुए सीही के निकटवर्ती एक अन्य ग्राम में आकर रहने लगे। वहाँ के जमींदार ने उनके रहने के लिये एक तालाब के किनारे झोंपड़ी बनवा दी और उनके खान पान की भी यथोचित व्यवस्था कर दी।

कहते हैं, उस समय सूरदास भविष्य-कथन किया करते थे। लोगों के पूछने पर वे जो शकुन बतलाते थे, वह सत्य होता था। इसके कारण आस-पास के ग्रामों से अनेक व्यक्ति उनके पास आने लगे, और उनको धन-धान्य एवं वस्त्राभूषणों की भेंट देने लगे। इस प्रकार उनके पास यथेष्ट वैभव हो गया। झोंपड़ी के स्थान पर अच्छा मकान बन गया और सुख-सुविधा की सब सामग्री एकत्रित हो गई।

इसी प्रकार, जन्मजात प्रतिभा, गुणियों के सत्संग और निजी अभ्यास के कारण सूरदास छोटी आयु में ही विभिन्न विद्याओं और कलाओं के ज्ञाता हो गये थे। उनकी गायन-वादन में विशेष रुचि थी। उनका

कठस्वर अत्यन्त मधुर था और वे संगीत-कला में दक्ष थे, अतः उनका गायन इतना प्रभावोत्पादक होता था कि सुनने वाले मंत्रमुग्ध से हो जाते थे। वे उस समय विनय, दीनता और विरह के पद बनाकर गाया करते थे।

उस स्थान पर रहते हुए एक दिन उनके हृदय में अकस्मात यह विचार उठा कि मैं भगवद्भजन के लिये विरक्त होकर घर से निकला था, किन्तु यहाँ पर तो माया के चंगुल में फँस गया। इस विचार के आते ही उनको बड़ी आत्म-ग्लानि हुई, और वे अपना समस्त वैभव वहीं पर छोड़ कर ब्रज की ओर चल दिये। उस समय उनकी आयु केवल १८ वर्ष की थी। इस प्रकार सीहीं तथा उसके निकटवर्ती ग्राम में वे सं० १५५३ तक रहे।

वहाँ से चलकर वे मथुरा पहुँचे, जहाँ पर उन्होंने कुछ समय तक विश्राम किया। पहले उनका विचार स्थायी रूप से मथुरा में रहने का था, किन्तु वहाँ की भीड़भाड़ और कोलाहल से उनको अशांति का अनुभव हुआ, अतः वे वहाँ से चलकर मथुरा-आगरा मार्ग पर स्थित गऊघाट नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ पर यमुना नदी के तट पर स्थित एक रमणीक और निर्जन स्थल पर उन्होंने अपना डेरा डाला। उस स्थान पर वे प्रायः १२ वर्ष तक रहे। वहाँ पर रहते हुए भी वे दीनता-विनय और ज्ञान-वैराग्य के पद गाया करते थे। इस प्रकार के पद सूरदास की आरंभिक रचना के हैं, जो सूरसागर के प्रथम एवं द्वितीय स्कंधों में मिलते हैं। उनके गायन और ज्ञान-वैराग्य विषयक उपदेश का लाभ प्राप्त करने के लिये अनेक व्यक्ति उनके पास आते थे और उनके सत्संग से अपना जीवन सफल करते थे। उस समय सूरदास 'स्वामी जी' कहलाते थे और अनेक व्यक्ति उनके शिष्य-सेवक हो गये थे।

सं० १५६७ के लगभग पुष्टि संप्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य जी गऊघाट पर आये। उस समय वे अपने नवनिर्मित श्रीनाथजी के मंदिर की देखभाल करने ब्रज के गोवर्धन स्थान को जा रहे थे।

सूरदास ने वल्लभाचार्य जी की ख्याति सुन रखी थी। वे उनके दर्शनार्थ गये और उनके सम्मुख विनय-दीनता के कई पदों का गायन किया।

वार्ता, भक्तमाल की टीका और मूल गुसाईं-चरित से ज्ञात होता है कि एक बार सूरदास और तुलसीदास की भी भेंट हुई थी। यद्यपि सूरदास पूर्ववर्ती और तुलसीदास परवर्ती कवि है, तथापि कुछ समय तक हिन्दी साहित्याकाश के ये दोनों सूर्य-चन्द्र एक दूसरे के समकालीन भी थे। उस समय सूरदास अतिवृद्ध थे और अपने अधिकांश काव्य की रचना कर चुके थे, जब कि तुलसीदास युवा थे और उन्होंने अपनी काव्य-रचना का आरम्भ ही किया था। वार्ता और भक्तमाल की टीका में सूर-तुलसी मिलन का संवत नहीं दिया गया है, किन्तु मूल गुसाईं-चरित में इस भेंट का संवत १६१६ लिखा गया है। इस संबंध के अंतिम शोध से निश्चय हो चुका है कि मूल गुसाईं-चरित की अन्य घटनाओं के समान सूर-तुलसी भेंट का संवत और तत्संबंधी विवरण भी प्रामाणिक नहीं है। हमारे अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि यह भेंट १६२९ में सूरदास के निवासस्थान परासोली में हुई थी। उस समय तुलसीदास अपने छोटे भाई नन्ददास से मिलने के लिए ब्रज में आये थे। वार्ता के प्रासंगिक विवरण से ज्ञात होता है कि सं० १६२० के पश्चात् नन्ददास विरक्त होकर स्थायी रूप से गोवर्धन में रहने लगे थे। नन्ददास आरंभ से ही सूरदास के कृपा-पात्र थे, अतः वे उनसे मिलने प्रायः परासोली जाया करते थे। जब तुलसीदास गोवर्धन में नन्ददास के पास गये, तभी वे नन्ददास के साथ सूरदास से भी परासोली में मिले थे। हिन्दी साहित्य के उन उभय रत्न महाकवियों की भेंट कितनी आनन्दप्रद और प्रेरणाप्रद रही होगी, इसका सहज में ही अनुमान हो सकता है। सूरदास-कृत कृष्णलीला के पदों को सुनकर तुलसीदास अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने बाद में सूरदास की शैली में ही भगवान रामचन्द्र की बाल-लीलाओं का वर्णन किया। तुलसीदास कृत ब्रजभाषा-रचना 'गीतावली" आदि में ऐसे कई प्रसंग मिलते हैं, जो स्पष्ट रूप से सूर-काव्य से प्रभावित हैं।

वल्लभाचार्य जी के व्यक्तित्व और उनके प्रगाढ़ पाण्डित्य से सूरदास इतने प्रभावित हुए कि वे उनके सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये और अपने गुरु के आदेशानुसार विनय-दीनता के पदों की अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-

गायन करने लगे। जब वल्लभाचार्य जी गऊघाट से चलने लगे, तब उन्होंने सूरदास को भी अपने साथ ले लिया। उन्होंने गोवर्धन पहुँचकर वहाँ के श्रीनाथ जी के मंदिर का सूरदास को कीर्तनकार नियत किया।

सूरदास ने सं० १५६८ के लगभग, अपनी ३३ वर्ष की आयु में श्री-नाथ जी के मंदिर में कीर्तन करना आरंभ किया था। उसके पश्चात् वे अपने देहावसान काल सं० १६४० तक नियमित रूप से नित्य नये पदों की रचना द्वारा श्रीनाथ जी का कीर्तन करते रहे। अपने १०५ वर्ष के सुदीर्घ जीवन काल में उन्होंने प्राय: एक लक्ष पदों की रचना की थी। वे समस्त पद कालांतर में 'सूरसागर' तथा सूरदास की अन्य कृतियों में संकलित हुए।

श्रीनाथजी के मंदिर से कुछ दूरी पर परासौली नामक स्थान में सूरदास रहा करते थे। वहाँ से प्रतिदिन श्रीनाथजी के मंदिर में जा कर कीर्तन करना और सांयकाल को अपने स्थान पर वापिस आना, यही उनका दैनिक कार्यक्रम था। वल्लभाचार्य जी के पुत्र विट्ठलनाथ जी जब पुष्टि संप्रदाय के आचार्य हुए, तब उन्होंने श्रीनाथजी की सेवा-प्रणाली का विशेष रूप से विस्तार किया। उन्होंने सेवा के तीन अंग 'शृंगार, भोग और राग' के विस्तार की विस्तृत योजना बनाई। 'राग' के विस्तार के लिए श्री नाथजी की आठों झाँकियों में ऋतु और समय के अनुसार विभिन्न कीर्तनों की व्यवस्था की गई। इसके लिये उन्होंने अपने संप्रदाय के प्रमुख आठ संगीतज्ञों की सं० १६०२ में एक मंडली बनाई, जो 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हुई। सूरदास अपनी सेवा-भावना और काव्य-संगीत विषयक कुशलता के कारण 'अष्टछाप' के नेता माने गये।

गो० विट्ठलनाथ जी की नवीन सेवा-व्यवस्था का प्रभाव सूरदास की काव्यरचना पर भी पड़ा। उस समय उन्होंने 'सारावली' और 'सेवाफल' नामक ग्रंथों की रचना की। ऐसा अनुमान है कि इन ग्रंथों की रचना सं० १६०२ में अथवा उसके कुछ समय पश्चात् हुई थी।

सं० १६०६ में 'अष्टछाप' के दूसरे प्रमुख कवि नन्ददास पुष्टि

संप्रदाय में सम्मिलित हुए। उस समय तक उनके हृदय में वासना के अंकुर थे और वैराग्य की दृढ़ता उत्पन्न नहीं हुई थी, अतः वे सूरदास के सत्संग में रहने के लिये परासौली भेजे गये। सूरदास ने नन्ददास की तात्कालिक रुचि के अनुसार माधुर्य-भक्ति द्वारा ही उनका निरोध करने के लिए रस-रीति के दृष्टकूट पदों की रचना की थी। इस प्रकार के पदों का संकलन 'साहित्य लहरी' के नाम से प्रसिद्ध है।

सूरदास के संगीत की प्रसिद्धि दूर-दूर तक हो गई थी। बड़े-बड़े विख्यात गायक भी उनके पदों का गायन करने लगे। एक बार तानसेन ने सूरदास का एक पद अकबर बादशाह के दरबार में गाया। अकबर उस पद की रचना-माधुरी पर इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने सूरदास से मिलने का विचार किया। इसके कुछ समय पश्चात् अकबर राजकीय कार्य से मथुरा गये। उन दिनों सूरदास भी श्रीनाथजी के स्वरूप के साथ कुछ समय के लिये मथुरा आये थे, अतः सं० १६२३ के लगभग मथुरा में अकबर बादशाह के आग्रह से सूरदास ने उनके सन्मुख एक उपदेशात्मक पद का गायन किया, जो 'सूर पच्चीसी' के नाम से प्रसिद्ध है।

परासौली-गोवर्धन में रहकर सूरदास ने अपने जीवन के सुदीर्घ ७२ वर्षों तक श्रीनाथजी के सन्मुख असंख्य पदों का गायन किया था। उनके सहस्रों पद वर्तमान सूरसागर की पोथियों में संकलित हो चुके हैं, और सहस्रों ही पद पुष्टि संप्रदायी कीर्तन की हस्तलिखित एवं मुद्रित प्रतियों में लिपिबद्ध तथा कीर्तनकारों को कंठस्थ हैं, जिनके संकलन की शीघ्र आवश्यकता है। उनके अन्य सहस्रों पद काल की क्रूरता और परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण नष्ट भी हो गये जिनके प्राप्त होने की अब कोई आशा नहीं है। सूरदास के काव्य में विनय-दीनता आदि के अतिरिक्त वात्सल्य और संयोग वियोगात्मक शृंगार रस के पदों की अधिकता है। इन विषयों के अगणित शब्द-चित्र सूर-काव्य में भरे पड़े हैं। सूरदास का जितना काव्य अभी तक प्रकाश में आया है, उसी के कारण वे हिन्दी कवियों के मुकुटमणि माने जाते हैं।

जब सूरदास को भगवद्भक्ति और कीर्तन सेवा करते हुए बहुत समय हो गया तब उनके महाप्रयाण का समय आया। अपना अंतिम समय निकट जान कर उन्होंने अपने निवासस्थान परासौली में श्रीनाथजी के मंदिर की ध्वजा को भक्तिभाव से प्रणाम किया और आप एक चबूतरे पर लेट गये। उन्होंने अपना मन समस्त लौकिक विषयों से हटाकर एकाग्र भाव से श्रीनाथजी और गोसाईं जी के ध्यान में लगा दिया और अपने अंतिम काल की प्रतीक्षा करने लगे। जब गोसाईं विट्ठलनाथजी को सूरदास की इस अवस्था का समाचार मिला तब वे शीघ्र ही अपने शिष्य-सेवकों सहित सूरदास के निवासस्थान पर आये और उनका हाथ पकड़ कर उन्होंने कहा, "सूरदासजी ! कैसे हो ?" इन शब्दों के सुनते ही सूरदास ने अपने नेत्र खोले और गोसाईं जी को अंतिम प्रणाम किया। इसके उपरान्त उन्होंन इस पद को गुनगुनाते हुए अपना भौतिक शरीर छोड़ दिया। सूरदास सं० १६४० के लगभग भगवान श्री कृष्ण के नित्य लीलाधाम में प्रविष्ट हुए—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिशय चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते॥
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि-पलटि ताटंक फँदाते।
'सूरदास' अंजन गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ि जाते॥

: २ :

सूरदास और अष्टछाप के कवि

डा० धीरेन्द्र वर्मा

हिन्दी साहित्य से अनुराग रखने वाले 'अष्टछाप' नाम से भली प्रकार परिचित हैं । वल्लभ सम्प्रदाय में इन आठ कवियों के लिए 'अष्ट-सखा' नाम भी प्रचलित है क्योंकि सम्प्रदाय की दृष्टि में ये भगवान कृष्ण के सखा माने जाते हैं । अपने पिता महाप्रभु वल्लभाचार्य के ८४ प्रसिद्ध शिष्यों में से चार तथा अपने २५२ शिष्यों में से चार को लेकर सम्प्रदाय के इन आठ प्रसिद्ध भक्त, कवि तथा संगीतज्ञों की मंडली गुसाईं विट्ठलनाथ ने सं० १६०२ के लगभग स्थापित की थी । अष्टछाप में महाप्रभु वल्लभा-चार्य के चार प्रसिद्ध शिष्य कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास तथा कृष्णदास थे तथा गुसाईजी के चार प्रमुख शिष्य गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास थे । इस कविमंडली में सबसे ज्येष्ठ कुंभनदास थे तथा सबसे कनिष्ठ नन्ददास थे । प्रतिभा तथा ख्याति की दृष्टि से प्रथम स्थान सूरदास को प्राप्त है तथा द्वितीय अथवा तृतीय स्थान नन्ददास को दिया जाता है। अष्टछाप के ये आठों भक्त आशुकवि थे और श्रीनाथ जी की आठों झाँकियों में ये अपनी-अपनी पारी से कीर्तन सेवा किया करते थे। साथ ही कृष्ण लीला की अनुभूति भी इन्होंने की थी ।

जैसा मैं अभी उल्लेख कर चुका हूँ कुंभनदास इनमें सबसे ज्येष्ठ थे। आयु में ये सूरदास से लगभग दस वर्ष बड़े थे। उन्हें महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सं० १५५६ के लगभग सम्प्रदाय में दीक्षित किया था । सूरदास महाप्रभु की शरण मे १०, ११ वर्ष बाद आए थे। कुंभनदास गौरवा क्षत्रिय थे। खेती से अपने बड़े कुटुम्ब का पालन करते थे। संसार के वैभवों की ओर से य

पूणतया विरक्त थे। जब गोवर्धन में श्रीनाथजी के स्वरूप की स्थापना महाप्रभु वल्लाभाचार्य ने कराई, तो कुंभनदास की प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके सिपुर्द उन्होंने कीर्तन का कार्य किया था। गोस्वामी विट्ठल-नाथ की उपस्थिति में ११५ वर्ष की आयु पाकर सं० १६४० में इनका देहावसान हुआ था।

कुंभनदास की स्वतन्त्र रचनाएं प्राप्त नहीं हैं। पुष्टि मार्ग के कीर्तन-संग्रहों में इनके फुटकर पद बिखरे पड़े हैं। इनका भी पूर्ण संकलन तथा संपादन अभी तक नहीं हुआ है। इनके पदों का मुख्य विषय स्वाभाविक-तया श्रीकृष्ण की बाललीला तथा प्रेमलीला से संबंधित है। कुंभनदास के पदों में भाषा, भाव तथा भक्ति भावना की दृष्टि से वह प्रौढ़ता नहीं पाई जाती जो सूरदास की रचनाओं में मिलती है किन्तु साथ ही ब्रजभाषा में साहित्यिक काव्य रचना प्रारंभ करने का श्रेय कुंभनदास को है। सूरदास ने इसी परम्परा को अधिक विकसित और पल्लवित किया। कुंभनदास तथा सूरदास में पूर्ण सौहाद्र्य था यद्यपि आगे चलकर जब सूरदास ने श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन का कार्य अपने हाथ में लिया, तो उनकी असाधारण प्रतिभा के आगे कुंभनदास का महत्व धीरे-धीरे कम हो गया, ऐसा मालूम पड़ता है।

परमानन्ददास सूरदास से लगभग १५ वर्ष छोटे थे और सूरदास के दीक्षित होने के १० वर्ष बाद सं० १५७७ के लगभग उन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्य से प्रयाग में दीक्षा ली थी। ये कन्नौज के रहने वाले कान्य-कुब्ज ब्राह्मण थे। वल्लभ सम्प्रदाय में आने के पूर्व ही ये काव्य और संगीत में निपुणता प्राप्त कर चुके थे। उन्होंने विवाह नहीं किया, और समस्त जीवन श्रीनाथजी के यशगान तथा भक्ति में लगा दिया। प्रारंभ में ये गोकुल में नवनीतप्रिया जी के स्वरूप के समक्ष, किन्तु बाद को गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर में मौलिक पद रचना करके कीर्तन किया करते थे।

पद संख्या तथा पदों के काव्यगत गुणों की दृष्टि से सूरदास के बाद

परमानन्ददास की रचना का स्थान है। यही कारण है कि 'सूरसागर' के समान परमानन्ददास के पद-संकलन को 'परमानन्द सागर' नाम दिया गया है। परमानन्ददास ने श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का अपने पदों में विशेष वर्णन किया है यद्यपि उन्होंने शृंगार भक्ति की भी उपेक्षा नहीं की है। वे काव्य प्रतिभा में सूरदास की टक्कर तो नहीं ले पाते, किन्तु तो भी उनकी अनेक रचनाएं सूरदास की रचनाओं के लगभग समकक्ष पहुँच जाती हैं। पद-रचना की दृष्टि से अष्टछाप कवियों में उन्हें प्रायः दूसरा स्थान दिया जाता है।

अष्टछाप में महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्यों में अन्तिम कृष्णदास थे। ये कवि अथवा भक्त की अपेक्षा अधिक सफल प्रबंधक थे। इसी कारण इनके नाम के आगे प्रायः 'अधिकारी' शब्द पाया जाता है। कृष्णदास गुजराती कुनबी पटेल थे। सूरदास जी के साथ ही सं० १५६७ के लगभग इन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी। ८४ वार्ता में इनकी जो जीवनी दी हुई है, उससे इनके चरित्र के संबंध में अनेक संदेह पैदा होने लगते हैं।

कुंभनदास, सूरदास तथा परमानन्ददास के समान कृष्णदास का संबंध श्री नाथजी के मंदिर में कीर्तन करने से नहीं बल्कि प्रबंध से था। तो भी ये स्वांतः सुखाय पद-रचना भी करते रहते थे। इनके पद सम्प्रदाय के कीर्तन-संग्रहों में बिखरे पड़े हैं। साहित्यिक दृष्टि से ये बहुत उच्च स्तर के नहीं कहे जा सकते।

स्वभाव से ये रसिक और कलाप्रेमी थे। इस दृष्टि से ये सूरदास जैसे विरक्त भक्त से बहुत भिन्न प्रकृति के थे। पद-रचना के क्षेत्र में इनकी महत्वाकांक्षा सूरदास के समकक्ष पहुँचने की रहती थी यद्यपि सूरदास की प्रतिभा का सौवाँ अंश भी इनमें नहीं था। अनेक पदों में सूरदास की भाषा तथा भाव-प्रणाली का स्पष्ट प्रभाव इनकी रचनाओं में पाया जाता है। सूरदास की सर्वोत्कृष्ट पद-रचना विरह शृंगार से संबंधित है। कृष्णदास की अधिकांश रचना का झुकाव संयोग-शृंगार की ओर है। रासलीला इनका प्रिय

विषय था। अतः इनकी रचना में राधा कृष्ण के विहार का वर्णन विशेष पाया जाता है।

'अष्टछाप' कवियों में महाप्रभु वल्लभाचार्य के चारों शिष्य—कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास तथा कृष्णदास—ज्येष्ठ भक्त कवियों का वर्ग बनाते हैं। गुसाईं विट्ठलनाथ के चारों शिष्य—अर्थात् गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास—आयु तथा दीक्षा काल की दृष्टि से वाद को आते हैं।

इन चार में गोविंदस्वामी सबसे बड़े थे यद्यपि ये भी सूरदास से लगभग २७ वर्ष छोटे माने जाते हैं। ये भरतपुर राज्य के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। कुछ दिन गृहस्थाश्रम करने के बाद इन्हें संसार से विरक्ति हो गई थी और ये ब्रज में आकर महावन में स्वामी के रूप में रहने लगे थे। संगीत शास्त्र के ये पूर्ण ज्ञाता थे। इनकी ख्याति भक्त के अतिरिक्त गायक और कवि के रूप में भी है। सं० १५९२ के लगभग पुष्टि मार्ग में दीक्षा लेने के उपरान्त ये गोवर्धन में रहने लगे थे और श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन सेवा में ही अपना समय व्यतीत करते थे।

अष्टछाप मंडली में प्रसिद्ध गायकों में सूरदास, परमानन्ददास तथा गोविंदस्वामी की विशेष ख्याति है। खोज में गोविंदस्वामी के लगभग ५०० पद प्राप्त हुए हैं। काव्य-कला तथा रसात्मकता की दृष्टि से सूरदास के पदों के समकक्ष इनके पद बिलकुल भी नहीं रखे जा सकते। इनके पदों का मुख्य विषय राधा-कृष्ण की प्रेम लीला है।

गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यों में दूसरा प्रसिद्ध नाम छीतस्वामी का है। ये मथुरा के चौबे थे और बीरबल के पुरोहित थे। प्रारंभ में ये दुष्ट प्रकृति के थे। पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने के उपरान्त इनके जीवन में काया पलट हो गई और ये एक आदर्श भक्त का जीवन व्यतीत करने लगे। ऐसा-मालूम होता है कि ये विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे किन्तु काव्य और संगीत से इन्हें प्रेम अवश्य था। सम्प्रदाय के प्रभाव के फलस्वरूप ये पद रचना भी करने लगे थे। इनके पद बहुत थोड़ी संख्या में मिलते हैं और काव्य-

उत्कर्ष की दृष्टि से इन्हें बहुत ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता। सच यह है कि सूरदास जैसे असाधारण प्रतिभाशाली भक्तकवि तथा छीतस्वामी जैसे साधारण प्रतिभा के व्यक्ति को एक मंडली में स्थान देना बहुत उचित नहीं है।

चतुर्भुजदास कुंभनदास के सबसे छोटे पुत्र थे। इस प्रकार पिता पुत्र दोनों अष्टछाप के अन्तर्गत आते हैं। इनका झुकाव बचपन से ही धर्म की ओर था। अतः कुंभनदास अपने शेष छः पुत्रों की अपेक्षा इनसे विशेष स्नेह करते थे। केवल १० वर्ष की आयु में इन्होंने पुष्टि मार्ग में गुसाईं जी से दीक्षा ली थी। चतुर्भुजदास के तीन पद-संग्रह उपलब्ध हैं। इनकी पद-रचना में भक्ति तथा शृंगार का सुन्दर मिश्रण है। इन्होंने बाललीला से लेकर गोपी विरह लीला तक से संबंधित कृष्ण-चरित का वर्णन अपने पदों में किया है।

अष्टछाप कवियों में सबसे कनिष्ठ नन्ददास थे। ये सूरदास से ५५ वर्ष छोटे थे। सूरदास के पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने के लगभग ४० वर्ष बाद सं० १६०७ के लगभग १७ वर्ष की आयु में इन्होंने गुसाईं विट्ठल-नाथ से दीक्षा ली थी। पहले ये रसिक प्रकृति के थे किन्तु पुष्टि मार्ग में आने के बाद इनका जीवन ही बदल गया।

अष्टछाप कवियों में केवल नंददास ही ऐसे हैं जिन्होंने पद-रचना के अतिरिक्त कृष्ण-चरित सम्बन्धी अनेक सफल खंड-काव्य भी लिखे हैं। भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की ओर इन्होंने विशेष ध्यान दिया है। इनके दो ब्रजभाषा कोष--अनेकार्थ तथा नाममाला--भी मिलते हैं।

नंददास कदाचित सूरदास के सम्पर्क में विशेष आए थे और उनसे प्रेरणा लेकर वे काव्य रचना की ओर झुके थे। इन्होंने जायसी तथा तुलसीदास की चौपाई शैली में भी काव्य रचना की है। नंददास की काव्यगत प्रतिभा में मौलिकता की मात्रा विशेष नहीं है। इनके सबसे प्रसिद्ध खंड-काव्य 'रास पंचाध्यायी' और 'भ्रमर गीत' हैं। दोनों पर श्रीमद्भागवत तथा सूरसागर की विशेष छाप पाई जाती है। एक आलोचक के शब्दों में "सूरदास की अधिकांश रचना पदों में है, भिन्न शैलियों में कम है, किन्तु नंददास की

रचना पदों में कम और भिन्न शैलियों में अधिक है।" अष्टछाप में कवि के रूप में सूरदास के वाद नंददास का नाम ही विशेष प्रसिद्ध है।

अष्टछाप के ज्येष्ठतम कवि कुंभनदास का जन्म सं० १५२५ में माना जाता है और कनिष्ठतम कवि नंददास का जन्म ६५ वर्ष वाद सं० १५९० में माना जाता है किन्तु सम्प्रदाय में सुरक्षित जनश्रुति के अनुसार अष्टछाप के अधिकांश कवियों का देहावसान सं० १६४० से १६४२ के बीच में हुआ। यह एक विचित्र संयोग है। गोसाईं विट्ठलनाथ के तीन शिष्यों—गोविंद-स्वामी, छीतस्वामी तथा चतुर्भुजदास—को तो गुसाईं जी के देहावसान से ऐसा धक्का लगा कि शीघ्र ही इन्होंने भी प्राण दे दिए।

इसमें कोई भी संदेह नहीं कि अष्टछाप मण्डली के कवियों में सूरदास सर्वोपरि है। इनकी काव्य-प्रतिभा, भाषा अधिकार, भाव चित्रण तथा भक्ति भावना की टक्कर अष्टछाप का कोई भी अन्य कवि नहीं ले सकता। सच तो यह है कि अधिकांश कवि उनसे वहुत नीचे रह जाते हैं। सूरदास के वाद कवि के रूप में नंददास तथा पद रचयिता की दृष्टि से परमानंददास महत्व रखते हैं। गोविंदस्वामी प्रसिद्ध संगीतमर्मज्ञ थे। शेष चार की प्रतिभा तो वहुत ही साधारण श्रेणी की थी।

: ३ :

सूरदास और संगीत

डा० वी० एन० भट्ट

हिन्दी साहित्य को अपनी प्रतिभा से आलोकित करने वाले महाकवि सूरदास का प्रादुर्भाव जिस युग में हुआ था, वह काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग है। इस युग की सभी प्रमुख विशेपताएं गीति-काव्य में मुखरित हुई हैं।

गीति-काव्य में विचारों का नहीं, प्रत्युत भावों का उद्वेलन होता है। हृदय-पक्ष का प्राधान्य होने से गीति-काव्य में भावात्मक अन्तर्जगत के स्पष्टीकरण की अपूर्व क्षमता है। कवि जब अपनी ही अन्तरात्मा से अनुभूति प्राप्त करके आत्माभिव्यंजन में प्रयत्नशील होता है, तब गीति-काव्य का सृजन होता है। इस दृष्टि से गीति-काव्य अपने ही हृदय की सच्ची गाथा है, वह व्यक्तिगत सुख-दुःख की कहानी है और यही कारण है कि इस प्रकार का काव्य मर्मस्पर्शी प्रकरणों से सदैव ओतप्रोत रहता है। आदिम युग से जो राग-द्वेषात्मक मनोवृत्तियाँ मानव के विभिन्न क्रियाकलापों का संचालन करती आई हैं, उन्हीं का स्पष्टीकरण गीति-काव्य का प्रधान विषय है। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि गीति-काव्य सदैव गेय होता है, अतः भाव सारल्य के साथ भाषा की सरलता, एवं शब्द-योजना के साथ स्वर, ताल, लय और राग के सुन्दर समन्वय की शक्ति, जिस व्यक्ति में जितनी अधिक है, वह उतना ही सफल गीतिकार है। महाकवि सूरदास में ये सभी विशेषताएं पूर्णरुपेण विद्यमान थीं और उनकी इसी निपुणता पर मुग्ध होकर वल्लभाचार्य ने उन्हें श्रीनाथजी के मन्दिर की कीर्त्तन-सेवा सौंपी थी।

सूर ने अपने सागर को जिस गीति-शैली से अंलकृत किया है, वह

उनकी मौलिक उद्भावना नहीं है। मध्ययुगीन पदों तथा उस युग के पूर्व से चली आती हुई लोक-गीत-पद्धति में जो असंदिग्ध समानता परिलक्षित होती है, वह इस कथन का जाज्वल्यमान् प्रमाण है। सूर के वहुत पहले मैथिल-कोकिल विद्यापति पद-साहित्य की श्रीवृद्धि कर चुके थे। संतों और नाथ सम्प्रदाय के साधुओं ने भी इस परम्परा को आगे वढ़ाया था। सूर की विदग्धता, गंभीरता, मार्मिकता एवं अनुभूति की तीव्रता से समन्वित होकर यही शैली परिमार्जित एवं कला-पूर्ण हो गई थी। मीरा, तुलसी और सूर इस परम्परागत शैली में शास्त्रीय संगीत के विधायक थे।

सूर के इस शास्त्रीय संगीत के विधान का मूल्यांकन वर्तमान शास्त्रीय संगीत के आधार पर करना अधिक समीचीन नहीं है। उनके युग के शास्त्रीय संगीत की रूपरेखा समझने के लिए भारतीय संगीत के इतिहास के उन पृष्ठों को पलटना होगा, जो उस काल के संगीत की स्थिति के परिचायक हैं। लोचन पंडित की राग-तरंगिणी, हृदयनारायण देव कृत 'हृदय-कौतुक' और 'हृदय-प्रकाश' तथा अहोवल के 'संगीत-पारिजात' से सूर तथा उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती युग के शास्त्रीय संगीत का वहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। भारतीय संगीत सदैव परिवर्तनशील रहा है। युग-युग में उसकी मान्यताएँ एवं धारणाएँ वदलती रही हैं। भैरव राग यदि आज सम्पूर्ण-सम्पूर्ण जाति का राग है, तो कभी वह औडुव-औडुव जाति का राग भी रह चुका है। उस प्राचीन भैरव को तो आज के श्रोता भैरव मानने को भी तैयार न होंगे। लोचन पंडित के समय की टोड़ी आज के भैरवी थाट के निकट है। पुरानी धनाश्री आज की पूरियाधनाश्री जैसी है। ऐसी स्थिति में सूर-सागर में दिए हुए पदों के अर्थ और उनके राग को लेकर उनमें रस की पारस्परिक एक-रूपता के निरूपण का प्रयत्न वस्तुतः एक जटिल समस्या है। जिन रागों के प्राचीन नाद-स्वरूप में अत्यधिक परिवर्तन नहीं हुआ है, उनके सम्वन्ध में तो इस प्रकार की खोज कुछ उपादेय भी है, परन्तु शेष रागों की ऊहापोह से विशेष लाभ की आशा नहीं है। तत्कालीन पदों की स्वर-लिपियों के अभाव से तथा अन्य ऐसे किसी साधन के उपलब्ध न होने से निश्चयात्मक रूप से यह

नहीं कहा जा सकता कि सूर-सागर के पदों को स्वतः सूरदास अथवा उनके समय के अन्य गायक किस प्रकार गाते थे तथा राग, स्वर, ताल और लय के साथ पदों के अक्षरों और शब्दों का क्या सम्बन्ध रहता था। सूर-सागर के पदों को गायक आज भी गाते हैं, परन्तु अधिकांश गायक पदों के निर्दिष्ट रागों की चिन्ता छोड़कर, उन्हें स्वेच्छानुसार प्रचलित किसी राग के स्वरों में बांध लेते हैं। दूसरे शब्दों में इसे यों कह लीजिए कि यदि किसी पद के राग का निर्देश करते हुए, उसके ऊपर 'राग कान्हरा' लिखा है, तो उसके स्थान पर 'राग घनाश्री' लिख देने से आज के अधिकांश गायकों को विशेष आपत्ति न होगी।

तथापि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सूर के पदों में शास्त्रीय संगीत का विधान तो है, परन्तु उनकी पद-शैली अपनी पूर्ववर्ती शास्त्रीय संगीत-पद्धति का विकसित रूप नहीं है। अतः सूर के पदों में शास्त्रीय-संगीत-विधान की अपेक्षा भाव और साहित्य की प्रतिष्ठा का आग्रह अधिक है। संगीत में शब्दों की अपेक्षा स्वर-सामंजस्य, लय और ताल का अधिक महत्व होता है। किन्तु सूर का युग यदि गीति-काव्य का स्वर्ण-युग है, तो वह शास्त्रीय संगीत का भी स्वर्ण-युग है। उसी शताब्दी को तानसेन जैसे अमर गायक का भी अभिमान है। अकबर जैसे कला-पारखी सम्राट के दरबार में जो संगीत अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो रहा था, उसका प्रभाव दरबार के बाहर भी पड़ना अवशयंभावी था, फलतः उस काल के पद-लेखकों ने शास्त्रीय संगीत के उतने अंश को ग्रहण कर लिया था, जितने से उनके पद अपनी भावुकता और साहित्यिकता को अक्षुण्ण रखते हुए धनुष पर चढ़े हुए तीर के समान प्रभावशाली हो सकते थे।

एक प्रसिद्ध पद की ये प्रारंभिक पंक्तियाँ देखिए :—

पिया बिन नागिन कारी रात

कबहुँक जामिनि उवति जुन्हैया, डस उलटी ह्वै जात

संगीत से अलग भी इन पंक्तियों का स्वतन्त्र अस्तित्व और प्रभाव है। फिर यदि संगीत से समन्वित होकर ये अनुपम शक्ति-सम्पन्न हो उठे तो

आश्चर्य ही क्या है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के मन्दिरों में भगवान कृष्ण की दिनचर्या को विशेष महत्व दिया जाता है। प्रातःकाल कृष्ण को जगाया जाता है। कलेवा करा कर उन्हें गोचारण के हेतु वन में भेज दिया जाता है। सायंकाल को वे गोचारण के पश्चात् लौट कर आते हैं। वर्षा ऋतु में, वसन्त में, होली के अवसर पर विशेष उत्सव भी होते हैं। इन नैमित्तिक कार्यों के साथ गायन-वादन का भी समारोह रहता है। वल्लभाचार्य द्वारा, श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन के लिए नियुक्त हो जाने के पश्चात् सूरदास अवसर के उपयुक्त नवीन-नवीन पदों की रचना करके उन्हें भगवान के सम्मुख गाते रहते थे। सूरदास ने अवसरा-नुकूल पदों के लिए समयानुकूल रागों को चुना है। उदाहरणार्थ सूर-सागर के दशम स्कंध में 'लालहिं जगाइ बलि गई माता' शीर्षक पद रामकली में है। 'उठे नन्दलाल सुनत जननी मुख बानी' शीर्षक पद ललित में है। ये दोनों राग शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से प्रातःकालीन संधि-प्रकाश राग हैं, अतः दोनों ही राग समयानुकल हैं। सूर्योदय के पश्चात् कृष्ण गोचारण के लिए वन में जाते हैं। इस अवसर से सम्बन्ध रखने वाले अधिकांश पदों को सूरदास जी ने बिलावल राग के अन्तर्गत रखा है। आजकल भी संधिप्रकाश रागों के पश्चात् दिन के प्रथम पहर में बिलावल एक अत्यन्त प्रचलित राग है। दोपहर के समय कृष्ण के लिए छाक भेजी जाती है। वन में सब ग्वाल-बाल मिलकर छाक खाते हैं। इस विषय से सम्बन्वित अधिकांश पद सारंग राग में है। मध्यान्ह के रागों में सारंग एक प्रमुख राग है। इस राग के यद्यपि अनेक भेद होते हैं, परन्तु उनमें सबसे अधिक प्रचलित 'बिंद्राबनी सारंग' है।

सामान्यतः सारंग राग कहने से गायक-वादकों को बिंद्राबनी सारंग की ही कल्पना होती है। तानसेन के गुरु स्वामी हरिदास का निवासस्थान होने के कारण वृंदावन संगीत का महत्वपूर्ण केन्द्र भी रह चुका है। जो लोग व्रज के लोक-गीतों से परिचित हैं, उनसे यह छिपा नहीं है कि व्रज के अनेक लोक-गीतों में सारंग राग की गहरी छाप दृष्टिगोचर होती है। सूर-सागर के अनेक उद्धरण लेकर इस कथन को और भी पुष्ट किया जा सकता है।

परन्तु गीतिकाव्य की एकमात्र कसौटी संगीत नहीं है। यह तो उसकी अनेक विशेषताओं में से एक है। उपयुक्त शब्द-चयन, चित्रप्रधान कल्पना, आवरण विहीन भाव-सौन्दर्य के दिग्दर्शन तथा वैयक्तिक राग-द्वेष, उल्लास-अश्रु, हर्ष-शोक इत्यादि की मार्मिक अभिव्यंजना के द्वारा ही गीति-काव्य को पूर्णता प्राप्त होती है। सूर के पदों की ये प्रमुख विशेषताएं हैं। इन्हीं विशेषताओं को संगीत से समन्वित करके सूर ने रागात्मक वृत्ति का उदात्तीकरण किया है। सूर के युग के शास्त्रीय संगीत तथा उस युग के पद-संगीत में बहुत कुछ एसा ही अन्तर रहा होगा, जैसा आज के शास्त्रीय संगीत और भजनों में है। वर्तमान ख्याल-गायकी और भजन की गायकी में तात्विक अंतर है। ख्याल-गायकी में आलाप, स्वर, ताल, लय, रागनिर्वाह तथा तानों को जैसा महत्व प्राप्त है, वैसा चाहे भजन की गायकी में दृष्टिगोचर न हो, फिर भी ख्याल-गायकी की जो छाया भजन की गायकी में परिलक्षित होती है, वह उसे ख्याल-गायकों से प्रभावित अवश्य सिद्ध करती है। सूर के युग में ध्रुपद की गायकी अपने चरमोत्कर्ष को पहुँच गई थी, अतः उस युग का पद-संगीत आमूलचूल रूप में ध्रुपद जैसी वस्तु न होते हुए भी उस ओर उन्मुख अवश्य रहा होगा।

अर्थव्यंजना और भाव-सौन्दर्य सूर के गीतों की आत्मा है। उनके गीतों की इस विशेषता पर मुग्ध होकर आज भी गायक बरबस उनके पदों को किसी राग में गुनगुना उठते हैं। सूर के आत्मनिवेदन और विनय के पदों में यदि भक्त-हृदय की व्याकुलता है, तो राधाकृष्ण के बाल और यौवन के वर्णनात्मक पद विश्व-साहित्य में अद्वितीय हैं। अपनी चित्रप्रधान-कल्पना के आधार पर उनका भावुक हृदय बहुत ऊँची उड़ान भरता हुआ मानव-हृदय की विभिन्न अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यंजना करता है। भावोन्मेश को अक्षुण्ण रखने के लिए सूर ने नैतिकता की भी विशेष चिन्ता नहीं की। फलतः उनके गीतों में रागात्मक अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो उठी है।

भावों के व्यक्तीकरण का मुख्य साधन भाषा है। यदि भावों को व्यक्त करने वाली भाषा क्लिष्ट, दुरूह अथवा कठिनता से बोधगम्य होनेवाली

हुई, तो उससे भावों का सारल्य तिरोहित हो जाता है। गीति-काव्य श्रव्य-काव्य है, किंतु यदि गीतों को सुनने वाले श्रोता भाषा की क्लिष्टता के कारण उसके अर्थ अथवा भाव को ही समझने में लगे रह गए, तो गीत का वे कितना आनन्द प्राप्त कर सकेंगे ? सूर की भाषा में प्रवाह, आत्मानुभूति की तीव्रता, और मानव-हृदय के कोमल भावों को व्यक्त करने की अनुपम शक्ति है। भाव और रसानुकूल शब्द-योजना से उनकी भाषा में मधुर संगीतात्मक प्रवाह आ गया है। सूर के कूट पदों में अवश्य दुरूहता है और मुख्यतः इसी कारण उनके कूट पद गायकों में विशेष प्रचलित भी न हो सके, परन्तु अन्यत्र उनकी भाषा गीति-काव्य के लिए बड़ी ही उपयुक्त है। सूर ने अपने युग की चलती हुई ब्रजभाषा में जो माधुर्य, साहित्यिकता और संगीतात्मक प्रवाह भर दिया था, उसी का यह प्रभाव था कि आगे चलकर लगभग ४०० वर्षों तक ब्रजभाषा गीति-काव्य की प्रमुख भाषा बनी रही।

सूरदास के संगीत को इन व्यापक विशेषताओं के विश्लेषण के लिए उनका कोई भी सरस पद लिया जा सकता है। सूर-सागर का 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' शीर्षक पद तो लोगों को बहुत ही प्रिय है। सूर ने इसे मल्हार राग में लिखा है और आजकल के अनेक ख्याल-गायक भी इसे मल्हार के ही किसी प्रचलित प्रकार में गाते हैं। शास्त्रीय संगीत से अपरिचित गायकों को भी यह पद बड़ा प्रिय है और वे भी इसे किसी धुन में बांध कर इसका आनन्द लेते रहते हैं। सूर की सरस भाषा, उनकी भावुकता और भावों का सजीव चित्र उपस्थित कर देने वाली मनोरम कल्पना ने इस पद में कुछ ऐसा आकर्षण भर दिया है कि कोई सहृदय इस पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता।

निसि दिन बरसत नैन हमारे,
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे ॥

एक ओर गोपियाँ अपने नेत्रों से कभी न बन्द होने वाली आँसुओं की झड़ी को देखती हैं और दूसरी ओर वर्षा ऋतु को। उनके हृदय की बेबसी, बेचैनी और मूक-वेदना जैसे इन पंक्तियों में मूर्तिमान हो उठी है। सूर के

अधिकांश पद भाषा, भाव और कल्पना की इसी त्रिवेणी में स्नात हैं। सूर के पदों का यही प्राण है। संगीत के जिस मनोरम शरीर में इन प्राणों का निवास है, वह भी बड़ा सुन्दर है। बरसते हुए नेत्रों और पावस की झड़ी को सम्मुख देखकर मल्हार के अतिरिक्त भला और किस राग की कल्पना होगी ? प्रकृति के प्रांगण में घटित होने वाली घटनाओं को मन अपने ही रंग में रंग कर देखता है। विरह व्यथित हृदय को प्रतीत होता है मानो घनघोर घटाओं में दामिनी की तड़प से उद्विग्न होकर आकाश रो उठा है। विशिष्ट मनोदशा में पावस के उमड़ते हुए आवेश के साथ जब मानव-हृदय स्पंदन करने लगता है, जब तड़ित की तड़क में उसे अपनी ही वेदना की अनुभूति होती है। अभी मैंने जिस पद की चर्चा की, उसमें साहित्य और संगीत का जो समन्वय हुआ है, वह सहृदय संवेद्य है। ऐसे अनमोल रत्नों की सूर के सागर में कमी नहीं और यह है महाकवि सूरदास की संगीत-साधना, जिसने उन्हें और उनके पदों को युग-युग के लिए अमर बना दिया है। तभी तो कहा जाता है कि :—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल सरीर।

———

: ४ :

सूरदास की भक्ति-पद्धति

• श्री विजयेन्द्र स्नातक

भक्तशिरोमणि महात्मा सूरदास ने गोस्वामी वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टि मार्ग में दीक्षित होकर जिस भक्ति-पद्धति का अनुसरण किया, वह वैष्णव सम्प्रदाय में सख्य कोटि की अनन्य भक्ति कही जाती है। उपासक अपनी अनन्य निष्ठा-भावना से भगवान् कृष्ण के पुनीत चरणों में लीन होकर सांसारिक विषय-वासना से मुंह फेर जब सब कुछ विस्मृत कर देता है तभी अनन्य भाव की भक्ति का श्रीगणेश समझना चाहिए।

अन्धभक्त सूरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि जीवन के प्रथम चरण में उन्होंने निर्गुण साधना-पद्धति को स्वीकार कर कुछ पदरचना की थी।

"नैननि निरखि स्याम स्वरूप।
रह्यो घट-घट व्यापि सोई जोति रूप अनूप।" (सूरसागर)

यह पद और ऐसे ही दसियों पद मिलते हैं जिनमें घट-घट-व्यापी को अलख-अगोचर मानकर निर्गुण साधना पद्धति से जानने का संकेत है। इन पदों में माया का वर्णन भी सूर ने ब्रह्मज्ञानियों की शैली से किया है।

माधव, नेंकु हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि-वासर अपथ-पथ अगह-गहि नहिं जाइ। (सूरसागर ५६)
'झूठी है सांची सी लागति अस माया सो जानि।' (सू० सा० ३८१)

कबीर आदि निर्गुणपन्थी भक्तों की भाँति सूर भी पहले वहिर्साधना (सगुण सेवा, पूजा) की अपेक्षा आन्तरिक साधना (निर्गुण ध्यान उपासना) को ही अधिक उपयुक्त समझते थे। वहिर्मुखी वृत्ति का सूर ने प्रारम्भ में

खण्डन किया था किन्तु बाद में वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने पर भीतर-बाहर सब जगह भगवान की लीला का विस्तार उन्हें दृष्टिगत होने लगा और वे सगुण रूप में ईश्वर की लीला का गुणगान करने लगे।

सूर की भक्ति-पद्धति का अनुसन्धान उनके पदों से ही किया जा सकता है। सूर की रचना में दो प्रकार के पद मिलते हैं; एक विनय-भक्ति सम्बन्धी पद और दूसरे सख्य-भक्ति सम्बन्धी पद। प्रसिद्ध है कि वल्लभाचार्य द्वारा पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने से पहले जब सूरदास गऊघाट पर रहते थे, तब वे विनय और दास्यभाव के पद बनाकर अपनी भक्ति-भावना का परिचय दिया करते थे। विनय-भक्ति की साधना में वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार सात भूमिकाएं स्वीकार की गई हैं। इन सात भूमिकाओं के आधार पर सात प्रकार का पद गान करना सूरदास को भी अभीष्ट हुआ। दीनता, मानमर्षता, भय-दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा ये सात स्थितियाँ हैं। इन सातों भूमिकाओं को लक्ष्य करके सूर ने पद रचना की है और अपने भक्ति-भाव की प्रथम स्थिति का अच्छा परिचय दिया है। दैन्य या कार्पण्य प्रदर्शन करते हुए बड़े विनीत भाव से सूर कहते हैं :—

प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ।

और पतित सब द्यौस चारि के, हौं तो जनमत ही कौ।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार यह पद सूरदास ने महाप्रभु वल्लभाचार्य के समक्ष गाया था। उसे सुनकर आचार्यजी ने कहा कि—'जो सूर है के ऐसो काहे को घिघियात है कछू भगवत लीला वर्णन करि।' इस फटकार को सुनते ही सूर ने विनय के पद गाना समाप्त कर भगवान की वैष्णव सम्प्रदाय वर्णित लीला का गान प्रारम्भ किया।

'कर्मजोग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम बिसरायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो॥ (सूरसागर)

विनयभक्ति का आधार दास्यभाव है—दास्यभाव में अपनी हीनता और भगवान की उच्चता इस कोटि की होती है कि भक्त कभी

भगवान के समकक्ष या तुल्य नहीं हो सकता। लीला-वर्णन इससे भिन्न कोटि का है। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि यह लीला क्या है? भारतीय भक्ति-पद्धति में भगवत्लीला की कल्पना सर्वथा अभिनव और उच्च है। अगम, अगोचर और अनिर्वचनीय ईश्वर की लीला का वर्णन सम्भव भी कैसे हो सकता है। भगवान् अनुभवैकगम्य है। वह स्वयं आनन्दरूप है, अमृतरूप हैं, रसरूप है फिर वे लीला क्यों करते है और उस लीला का वर्णन करके भक्तजन प्रमुदित कैसे होते है? वल्लभ सम्प्रदाय में इस लीला की महत्ता वताते हुए कहा गया है कि भगवत्साक्षात्कार बड़ी वात नहीं है—बड़ी वात है भगवत्प्रेम। भगवान के प्रति परम-प्रेम, एकान्त प्रेम ही भक्ति है। लीला उसी प्रेम का प्रपंच है। वल्लभाचार्य ने लीला का माहात्म्य वर्णन करते हुए अपने ब्रह्म सूत्र के भाष्य में लिखा है "लीला विशिष्टमेव शुद्धं परमं ब्रह्म, न कदाचित् तद्रहितं इत्यर्थः। ते च (लीलायाः) नित्यत्वम्। अथवा लीला एव कैवल्यम्, जीवानां मुक्ति रूपम्, तत्र प्रवेशः परमा मुक्तिरीति।" अर्थात् लीला कैवल्य और मुक्ति से बढ़कर परम मुक्ति है। वे आगे लीला का प्रयोजन कहते है—'नहिं लीलायां किञ्चित् प्रयोजनमस्ति। लीलाया एव प्रयोजनत्वात्।" अर्थात् लीला का कोई वाह्य प्रयोजन नहीं—लीला का प्रयोजन लीला ही है। भगवान् का स्वभाव ही लीला करना है।" लीला-वर्णन के लिए भगवान के कान्ताभाव या दाम्पत्यभाव का ग्रहण करना आवश्यक है। कान्ताभाव के लिए ही राधा प्रेम की कल्पना की गई है अतः वैष्णव सम्प्रदाय में राधा-भाव का प्रेम ही परमभक्ति है।

श्री वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग में लीला-वर्णन द्वारा राधा-कृष्ण की आराधना को चरम उत्कर्ष प्राप्त हुआ और सखाभाव से कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करने का प्रयत्न भक्तों ने किया। फलतः सूरदास भी अपनी विनय-भाव और दास्य-भक्ति को छोड़ सख्यभक्ति के क्षेत्र में अवतरित हुए और अपने तानपूरे पर सखा श्रीकृष्ण की लीला-वर्णन, कीर्तन, स्मरण आदि करने में लीन हो गये और उन्होंने नवधा भक्ति के सभी रूपों का वर्णन किया।

किन्तु प्रमुख रूप से सख्य भक्ति, वात्सल्य भक्ति और मधुर भक्ति को ही पल्लवित करने वाले पद आपने अधिक लिखे। क्योंकि इन तीनों रूपों में ही आचार्य वल्लभ ने भगवद्भक्ति का विस्तार करने का निर्देश किया था।

यथार्थ में सूर की भक्ति-पद्धति का मेरुदण्ड पुष्टिमार्गीय भक्ति है। भगवान् की भक्त पर कृपा का ही नाम पोषण है। 'पोषणं तदनुग्रहः'। पोषण के भाव को स्पष्ट करने के लिए भक्ति के दो रूप बताये गये हैं, एक साधन रूप और दूसरा साध्य रूप। साधन-भक्ति में भक्त को प्रयत्न करना होता है, किन्तु साध्य रूप में भक्त सब कुछ विसर्जित करके भगवान की शरण में अपने को छोड़ देता है। क्रीड़नशील बालक जैसे थक कर अन्त में माँ की गोद में ही विश्राम-चैन पाता है, वैसे ही जीव श्रीकृष्ण की शरण में पुष्टि पाकर सफलकाम होता है। पुष्टि मार्गीय भक्ति को अपनाने के बाद प्रभु स्वयं अपने भक्त का ध्यान रखते हैं, भक्त तो अनुग्रह पर भरोसा करके शान्त बैठ जाता है—आचार्य वल्लभ ने पोषण शब्द से ही पुष्टि शब्द का निर्माण किया। इस मार्ग में भगवान् के अनुग्रह पर ही सर्वाधिक बल दिया जाता है। भगवान् का अनुग्रह ही भक्त का कल्याण करके उसे इस लोक से मुक्त करने में समर्थ होता है।

"जापर दीनानाथ ढरै।
सोइ कुलीन बड़ौ सुन्दर सोइ जापर कृपा करै।
सूर पतित तरि जाय तनक में जो प्रभु नेक ढरै।"

भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिए सूर की भक्ति-पद्धति में अनुग्रह का ही प्राधान्य है—ज्ञान, योग, कर्म यहाँ तक कि उपासना भी निरर्थक समझी जाती है; सूरदास कहते हैं—

कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो।

सूरदास भक्ति के क्षेत्र में भगवदासक्ति के एकादश रूपों का भी वर्णन करते हैं। नारद भक्ति सूत्र के अनुसार आसक्ति के एकादश रूप इस प्रकार

हैं—गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और परमविरहासक्ति। यद्यपि सूर ने आसक्ति के रूप में इन ग्यारहों विधाओं का वर्णन किया किन्तु उनका मन सख्य, वात्सल्य, रूप, कान्त और तन्मयासक्ति में ही अधिक रमा है। तन्मयासक्ति का उदाहरण सुनिये—

"उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसे हूँ निकसत नाही ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े।"

परम विरहासक्ति भँवर गीत के पदों में बड़ी समीचीन शैली से व्यक्त हुई है। सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवि परमानन्द दास तथा कुम्भनदास ने भी इस विषय पर पद लिखे ह। प्रेमाभक्ति में विरह की स्वीकृति इस सम्प्रदाय में प्रारम्भ से मिलती है।

भक्ति के दार्शनिक स्वरूप की ओर भी सूर का ध्यान बराबर बना रहा। सिद्धान्त पक्ष की स्थापना में सूर ने वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत का ध्यान रखा और ब्रह्म, जीव आदि का वर्णन करते समय सूक्ष्म बातों का भी यथास्थान उल्लेख किया। इतना ही नहीं—सूरदास ने ईश्वर, माया, जीव, काल और सृष्टि रचना का विशद वर्णन करके अपने भक्ति-सिद्धान्त को इतना पुष्ट और परिपूर्ण बना दिया कि उसमें एक ओर जहाँ गहन दार्शनिकता आ गई है, वहाँ दूसरी ओर जीवन की कोमल भावनाओं के कारण सुकुमारता, भावुकता और तल्लीनता की भी कमी नहीं है।

सूरदास की भक्ति के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात करके यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि सूरदास की भक्ति का प्रमुख आधार पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त 'भगवदनुग्रह' ही था और इसी को केन्द्र-बिन्दु मान कर वे वात्सल्य, प्रेम आदि की व्यंजना करने में लीन रहे। भक्ति में कृपा की प्राप्ति का साधन उन्होंने प्रेम को माना। बाद में प्रेमाभक्ति को अपनाकर उन्होंने भगवत्प्रेम को ही भक्ति का मेरुदण्ड मान लिया—प्रेम

की परिभाषा उन्हीं के शब्दों में सुनिये—

प्रेम प्रेम ते होई प्रेम ते पारहि पइये।
प्रेम बंध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहिए॥
एकै निश्चय प्रेम को जीवनमुक्ति रसाल।
साँचौ निश्चय प्रेम को जहिरैं मिले गोपाल॥

प्रम की परिपूर्णता के लिए विरह को आवश्यक मान कर सूर न प्रमाभक्ति को परिपूर्ण बनाया है :—

ऊधौ विरहौ प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पर गहत न रंग को रंगन रसै परै।
ज्यों धर दहै बीज अंकुर गिरि तो सत फरनि फरै।

सूरदास ने प्रेम और विरह के द्वारा सगुण मार्ग से कृष्ण को साध्य माना है। उनके कृष्ण सखा रूप में भी सर्वशक्तिमान परमेश्वर हैं। विष्णु, हरि, राम आदि सब कृष्ण ही के नाम है। निर्गुण ब्रह्म के ये सगुण नाम हैं और इनमें भेदबुद्धि सूरदास को अभीष्ट नहीं। सूरदास ने जहाँ रामकथा का उल्लेख किया है वहाँ यही आशय है कि दोनों ही कृष्ण के रूप हैं, इनमें कोई भेदभाव नहीं है। राधा को कृष्ण की शक्ति का प्रतीक माना है और इसीलिए कवि ने इसे शेष, महेश, शंभु, नारद आदि की स्वामिनी कहा है। निर्गुण सिन्धु में अवगाहन करना साधारण जन के लिए कठिन मान सूरदास ने सगुण कृष्णभक्ति का पथ प्रशस्त किया—निर्गुण समुद्र से बचने के लिए सगुण कृष्ण का वर्णन उन्हें अभीष्ट हुआ—"कौन काज या निर्गुण सो चिरजीवहु कान्ह हमारे।"

चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्यो ने भक्ति के दो रूप वताये हैं। गौणी तथा परा। पराभक्ति सिद्धावस्था से सम्बन्ध रखती है। लौकिक भक्तों के लिए गौणी भक्ति का ही विधान है। इस गौणी भक्ति के दो रूप हैं, पहली वैधी और दूसरी रागानुगा। रामानुगा भक्ति राग या प्रेम पर अवलम्बित है। इसको विहिता और अविहिता नाम से वल्लभाचार्य ने अपने अणुभाष्य में कहा है।

वैष्णव सम्प्रदायों में माधुर्य-भाव की भक्ति को अन्य प्रकार की भक्ति-पद्धतियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है, कारण यह है कि व्यक्तिगत सम्बन्ध की निकटता और अनन्यता की दृष्टि से माधुर्य-भाव में जो उत्कर्ष है, वह अन्य प्रकार की भक्ति में परिलक्षित नहीं होता। विभिन्न लीलाओं के प्रसंग, माधुर्य-भाव को स्पष्ट करने वाले मनोरम प्रसंग हैं जिनमें भगवान् की असीम शक्ति को पतिरूप में वरण करके गोपियाँ सुखी होती हैं। दान लीला आदि में असंदिग्ध शब्दों में कवि ने गोपियों के द्वारा माधुर्य के आलम्बन के अतिरिक्त कृष्ण के अन्य सभी रूपों की अवहेलना करके यह प्रदर्शित किया है कि अनन्य भाव की चरम परिणति, गोपियों के माधुर्य-भाव में ही हो सकती है। गोपियों के द्वारा कृष्ण की प्राकृत और अतिप्राकृत दोनों प्रकार की गौरवगरिमा का उपहास कराके यह दिखाया गया है कि उनका प्रेम उनकी इन्द्रियों और मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर निर्भर है जिसका आधार कृष्ण का मनोहर रूप तथा उनकी प्रेम-प्रवण लीलाएं हैं। माधुर्य-भाव की भक्ति के सम्बन्ध में अति शृंगारिक और वासना-प्रधान होने का जो भ्रम फैला हुआ है उसका निवारण भी सूर की माधुर्य-भक्ति वाले पदों से हो जाता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर की भक्ति-पद्धति में जिस माधुर्य-भाव को स्थान मिला हैं, वह मुख्य रूप से लीलाओं पर आधारित है। इसी कारण उसे केवल-मात्र ऐन्द्रियिक नहीं कहा जा सकता। भ्रमर-गीत में गोपियोंकी उक्तियाँ केवल ऐन्द्रियिक सुखको व्यक्त नहीं करतीं, वरन् वे उनके हृदय की पवित्रता, निश्छलता, अनन्यता और उदारता का परिचय देती हैं। ज्ञान-मार्ग के पथिक उद्धव का ज्ञान भूलकर सगुण प्रेम की भक्ति को स्वीकार करना इस वात का प्रमाण है कि यह भक्ति-पद्धति वासना या शृंगार की अश्लीलता से सर्वथा रहित थी और इसमें माधुर्य-भाव की प्रधानता होने पर भी तन्मयता और तल्लीनता की चरम उपलब्धि भक्तों को हुई थी।

सारांश यह कि सूर की भक्ति-पद्धति का आधार वैष्णव भक्ति-पथ होने पर भी उसका प्रासाद निर्माण गोस्वामी वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित साम्प्रदायिक (पुष्टिमार्गीय) तत्वों से हुआ था। ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध

निरूपण करते हुए सूर ने अग्नि-स्फुलिङ्ग (चिनगारी) का उदाहरण दिया और जीव को ब्रह्म का अंश ठहराया। जीव अपने को ब्रह्म के चरणों में समर्पित करके ही लोक के प्रलोभनों से मुक्त हो सकता है। जीव के विकास की चार अवस्थाओं का वर्णन करते हुए आचार्य ने बताया है कि प्रवाहमार्गी, मर्यादा मार्गी, पुष्टिमार्गी और शुद्ध पुष्ट इन चार कोटियों में लेकर ही जीव चलता है। इसी के आधार पर पुष्टि भक्ति को भी चार रूपों में बताया है। प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि पुष्टि, और शुद्ध पुष्टि। अन्तिम शुद्ध पुष्टि की स्थिति प्राप्त कर जीव परमानन्द में लीन होता है। सूर ने इन चारों प्रकार की पुष्टियों का वर्णन अपने पदों में किया है किन्तु मूल रूप से उनकी अन्तस्चेतना में शुद्ध पुष्टि का ही स्वरूप भासित हुआ है।

जिस सूर ने "अविगत गति कछु कहत न आवे। ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै" कहकर प्रभु का स्वरूप चिन्तन करना प्रारम्भ किया था, उसी ने 'अति सुन्दर नंद महरि ढटौना। निरखि-निरखि ब्रज नारि कहंहि सब यह जानत कछु टौना।" कहकर श्री कृष्ण का रूप अपनी भक्ति-भावना से न केवल स्वयं देखा किन्तु ब्रजनारियों को भी उसका दर्शन कराया।

: ५ :

सूरदास और शृंगार

डा० सत्येन्द्र

यह सर्वमान्य है कि सूरदास भक्त हैं, उनकी भक्ति-भावना ने ही काव्यमय शरीर धारण किया और "सूर-सागर" जैसी अनूठी कृति हिन्दी-साहित्य को ही नहीं, विश्व-साहित्य को मिल सकी। सूर-सागर की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें शृंगार-रस की विश्व-परक भावभूमि को भक्ति की उच्चतम भव्यता से अभिमंडित कर दिया गया है। शृंगार-रस का रतिभाव विश्वभर के साहित्य का प्राण है, पर भारत में कृष्ण-सम्प्रदाय के अतिरिक्त विश्व में अन्यत्र कहीं इसको सौम्य और भव्य (सबलाइमेट) करने की ऐसी चेष्टा नहीं की गयी। अन्यत्र प्रेम में दिव्यता लाने की चेष्टा की गयी है, अस्थि-चर्म के इस विकार को पवित्रेता और पावनता शरीरी धर्म के स्वरूप में ही देने के प्रयत्न भी हुए हैं, पर उसे आध्यात्मिक स्तर पर कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया जा सका। यह सूर ने किया।

भक्ति-रस-शास्त्र में साधारणतः उत्तम भक्ति तीन प्रकार की मानी गयी है: साधना-भक्ति, भावना-भक्ति तथा प्रेम-भक्ति। साधना-भक्ति के दो भद होते हैं—वैधी और रागानुगा। वैष्णव-धर्म के प्रभाव से भक्ति ने इतनी प्रवलता प्राप्त की कि जो "भक्ति" भरत मुनि के समय में "शांतरस" के अर्न्गतत समाविष्ट थी, जिसे ग्यारहवीं शताव्दी में मम्मट ने 'रतिर्देवादि-विषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः।' (काव्य प्रकाश ४।३५) कहकर केवल 'देवादिविषयक रति' मात्र 'भाव' माना, वही सोलहवीं शताव्दी में 'रस' का स्थान पा सकी और उस पर अनेकों शास्त्र रचे गये। इसी भक्ति में हमें साधना से भावना, और भावना से प्रेमा की

उत्कृष्टता विदित होती है। साधना-भक्ति में भौतिक अनुष्ठानों का प्राधान्य रहता है, भावना में भौतिक अनुष्ठान तो शून्य हो जाते हैं, पर भावना-संबंधी अनुष्ठान अवश्य होते हैं। जो विधियाँ कर्मकांड से साधना-भक्ति के लिए की जाती हैं, वे ही मानसिक भक्ति में भावना द्वारा संपन्न की जाती हैं, किन्तु प्रेमा-भक्ति में ऐसे किसी भी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती। एक मात्र 'प्रेम' की ही मान्यता हो जाती है।

प्रेम प्रेम ते होई, प्रेम ते पारहिं पइये,
प्रेम बंध्यो संसार, प्रेम परमारथ लहिये,
एकै निश्चय प्रेम को जीवन मुक्ति रसाल,
सांचौ निश्चय प्रेम को जहिरें मिलें गोपाल।

इस प्रकार इस प्रेमा-भक्ति में साध्य और साधन अभेद हो जाता है। यह महत्तम स्थिति और किसी भक्ति में प्राप्त नहीं हो पाती। सूर ने इसी प्रेमा-भक्ति को सूर-सागर के द्वारा प्रस्तुत किया। प्रेम की और प्रेमा-भक्ति की दुहाई 'कबीर' ने भी दी।

कहै कबीर जन भए खाला से
प्रेम भगति जिन जानी

किन्तु कबीर का यह प्रेम 'निराधार' का प्रेम था, जायसी ने भी 'प्रेम की पीर' की व्याख्या की, पर इन्होंने भी सांसारिक प्रेम से जी चुराया, और आध्यात्मिक प्रेम की बात कही। किन्तु सूरदास जी ने 'प्रेम' के न तो सांसारिक रूप की ही अप्रतिष्ठा की न आध्यात्मिक रूप की ही। उन्होंने ही वस्तुतः भक्ति को 'रस' स्थिति तक पहुँचाया, क्योंकि उन्होंने शृंगार और भक्ति को अभिन्न कर दिया।

'कृष्ण' उनके अवलम्ब थे। ये कृष्ण स्वयं ब्रह्म थे, ब्रह्म के अवतार नहीं। और ये साकार सशरीर कृष्ण ही ब्रह्म थे, महत्तम साध्य। उद्धव से गोपियाँ पूछती हैं—

ह्याँ तुम कहत कौन की बातें ?

सुन ऊधौ हम समुझत नाहीं फिरि बूझति हैं तातें।'

यों तो वे गोपियाँ यह भी नहीं समझतीं कि

को नृप भयो ?

कंस किन मार्यौ ?

को वसुदेव सुत आहि ?

किन्तु सबसे अधिक कठिनाई तो यह है कि वे नहीं जानतीं कि

को अविनासी अगम अगोचर ?

को विधि वेद अपार ?

वे स्पष्ट कहती हैं कि

यह इहि गांउ न समुझत कोऊ कैसो निर्गुण होत।

यहाँ निर्गुण को कोई भी नहीं जानता ? तभी वे पूछ बैठती हैं—

निर्गुण कौन देस को बासी ?

पूछना ही नहीं वे उद्धव से निस्संकोच कहती हैं, "सुनिहै कथा कौन निर्गुण की रचिरचि बात बनावत" क्योंकि "सगुन सुमेरु प्रकट देखि तुम तृण की ओट दुरावत"। यह 'सगुन सुमेरु' जिसे गोपियाँ 'प्रकट' दे हैं—'यशोदा-सुत नन्दकुमार' के अतिरिक्त और कौन है।

ह्याँ यशुदासुत परम मनोहर जीवतु हैं मुख चाहि,

नित प्रति जात धेनु वन चारन गोप सखन के संग

सूर की ये धारणायें जो गोपियों के मुख से निकली हैं नि निवारण कर देती हैं, ब्रह्म और यशोदा-सुत नन्दकुमार कृष्ण एक हैं—और राधा-कृष्ण का और कृष्ण-गोपियों का प्रेम भक्ति से अ रहता हुआ भी शृंगार रस की रति का पर्याय हो जाता है। इस 'भक्ति' का शृंगार रस से कोई भिन्न स्वरूप शेष नहीं रहता। यह है कि सूर के शृंगार रस में रति स्थायी भाव का पूर्ण और

परिपाक हुआ है।

शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है। सूरदास ने इस रति को 'भाव' की कोटि में जाने से बचाने के लिए, अपनी रचना में दाम्पत्य रति स्त्री-पुरुष की रति का ही प्रतिपादन किया है, उसी का विकास प्रस्तुत किया है।

इस रति के नायक कृष्ण हैं और नायिका राधा तथा गोपियाँ। किंतु क्या गोपियाँ वस्तुतः नायिकायें हैं ? राधा और गोपियों की कहानी अलग-अलग है। गोपियों ने कृष्ण को उनके जन्म के समय से ही अपने बीच में पाया है, उनका प्रेम उनमें वात्सल्य से शृंगार की ओर अग्रसर हुआ है—दानलीला प्रकरण में गोपियाँ कहती हैं ।

नन्द सुवन यह बात कहावत
आपुन जीवन दान लेत हैं तापर जोइ-सोइ सखन सिखावत।
वे दिन भूलि गये हरि तुमको चोरी माखन खाते—

वात्सल्य से शृंगार में परिणति पाने वाले इस प्रेम का आश्रय जिन गोपियों में है वे सब विवाहिता हैं, पर नारी हैं। वे कृष्ण की भर्त्सना भी इसी अवसर पर इन शब्दों में करती हैं :—

सखा लिये तुम घेरत पुनिपुनि वन भीतर सब नारि पराई।

अतः गोपियों में 'परकीयात्व' के साथ कृष्ण-पातिव्रत्य है—कृष्ण गोपियों को बताते हैं—

तुम पति कियौ मोहि को मन दे, मैं हौं अन्तर्यामी।

यह बात भी ध्यान में रखने की है कि गोपियाँ कृष्ण से उम्र में बड़ी हैं, वे कृष्ण का ध्यान उनकी उम्र की ओर भी आकर्षित करती हैं—

कहा भये अति ढीठ कन्हाई
ऐसी बात कहत सकुचत नहिं, कहधौं अपनी लाज गंवाई
बहुत होहुगे दसहि बरस के बात कहत हौ बनै बनाई।

कृष्ण नायक गोपी-समूह से इस प्रकार दान माग रहे है। नायक एक, और नायिकायें संख्या में इतनी । यह स्थिति शृगार रस के लिए कुछ

ह्याँ तुम कहत कौन की बातें ?
सुन ऊधौ हम समुझत नाहीं फिरि बूझति हैं तातें।'

यों तो वे गोपियाँ यह भी नहीं समझतीं कि

को नृप भयो ?
कंस किन मारयौ ?
को वसुदेव सुत आहि ?

किन्तु सबसे अधिक कठिनाई तो यह है कि वे नहीं जानतीं कि

को अविनासी अगम अगोचर ?
को विधि वेद अपार ?

वे स्पष्ट कहती हैं कि

यह इहि गांउ न समुझत कोऊ कैसो निर्गुण होत।

यहाँ निर्गुण को कोई भी नहीं जानता ? तभी वे पूछ बैठती हैं—

निर्गुण कौन देस को बासी ?

पूछना ही नहीं वे उद्धव से निस्संकोच कहती हैं, "सुनिहै कथा कौन निर्गुण की रचिरचि वात बनावत" क्योंकि "सगुन सुमेरु प्रकट देखियत तुम तृण की ओट दुरावत"। यह 'सगुन सुमेरु' जिसे गोपियाँ 'प्रकट' देखती हैं—'यशोदा-सुत नन्दकुमार' के अतिरिक्त और कौन है।

ह्याँ यशुदासुत परम मनोहर जीवतु है मुख चाहि,
नित प्रति जात धेनु वन चारन गोप सखन के संग

सूर की ये धारणायें जो गोपियों के मुख से निकली हैं निर्गुण का निवारण कर देती हैं, ब्रह्म और यशोदा-सुत नन्दकुमार कृष्ण एक हो जाते हैं—और राधा-कृष्ण का और कृष्ण-गोपियों का प्रेम भक्ति से ओत-प्रोत रहता हुआ भी शृंगार रस की रति का पर्याय हो जाता है। इस प्रकार 'भक्ति' का शृंगार रस से कोई भिन्न स्वरूप शेष नहीं रहता। यही कारण है कि सूर के शृंगार रस में रति स्थायी भाव का पूर्ण और अलौकिक

परिपाक हुआ है।

शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है। सूरदास ने इस रति को 'भाव' की कोटि में जाने से बचाने के लिए, अपनी रचना में दाम्पत्य रति स्त्री-पुरुष की रति का ही प्रतिपादन किया है, उसी का विकास प्रस्तुत किया है।

इस रति के नायक कृष्ण हैं और नायिका राधा तथा गोपियाँ। किंतु क्या गोपियाँ वस्तुतः नायिकायें हैं ? राधा और गोपियों की कहानी अलग-अलग है। गोपियों ने कृष्ण को उनके जन्म के समय से ही अपने बीच में पाया है, उनका प्रेम उनमें वात्सल्य से शृंगार की ओर अग्रसर हुआ है—दानलीला प्रकरण में गोपियाँ कहती हैं।

नन्द सुवन यह बात कहावत
आपुन जीवन दान लेत हैं तापर जोइ-सोइ सखन सिखावत।
वे दिन भूलि गये हरि तुमको चोरी माखन खाते—

वात्सल्य से शृंगार में परिणति पाने वाले इस प्रेम का आश्रय जिन गोपियों में है वे सब विवाहिता हैं, पर नारी हैं। वे कृष्ण की भर्त्संना भी इसी अवसर पर इन शब्दों में करती हैं :—

सखा लिये तुम घेरत पुनिपुनि वन भीतर सब नारि पराई।

अतः गोपियों में 'परकीयात्व' के साथ कृष्ण-पातिव्रत्य है—कृष्ण गोपियों को बताते हैं—

तुम पति कियौ मोहि को मन दे, मैं हौं अन्तर्यामी।

यह बात भी ध्यान में रखने की है कि गोपियाँ कृष्ण से उम्र में बड़ी हैं, वे कृष्ण का ध्यान उनकी उम्र की ओर भी आकर्षित करती हैं—

कहा भये अति ढीठ कन्हाई
ऐसी बात कहत सकुचत नहिं, कहधौं अपनो लाज गँवाई
बहुत होहुगे दसहि बरस के बात कहत हौ बनै बनाई।

कृष्ण नायक गोपी-समूह से इस प्रकार दान मांग रहे हैं। नायक एक, और नायिकायें संख्या में इतनी। यह स्थिति शृंगार रस के लिए कुछ

अटपटी है । यद्यपि सूरदास ने कृष्ण की अलौकिकता का किंचित् सहारा लेकर गोपी कृष्ण की इस रति को भी पूर्णतः फलित सिद्ध किया है—पहले मानसिक क्षेत्र में—

अन्तर्यामी जानि लई ।

मन में मिले सबनि सुख दीन्हों तब तनु की कछु सुरति भई ।

और तब शरीर के क्षेत्र में। इस समस्त परिपाक से भी श्रृंगार-रस के रति-भाव में आवश्यक यथार्थ चमत्कार उत्पन्न नहीं होता । रति सौष्ठव बिखर जाता है— किन्तु गोपियों के इस प्रेम को सूरदास यों ही छोड़ नहीं सकते । "चीर हरण" से जिस रति-भाव का गोपीकृष्ण में आरंभ होता है, संयोग-श्रृंगार में वह रास-लीला में पराकाष्ठा पर पहुँचता है । दान-लीला में कृष्ण इस चीर हरण का उल्लेख कर गोपियों के उनके मूल मनोभाव की उद्दीप्ति कर देते हैं:—

सबै रहीं जल मांझ उघारी

कैसे हास भये तब सब के सो तुम सुरति बिसारी ।

इस घटना के स्मरण का गोपियों पर यथोचित प्रभाव पड़ता है, और दानलीला संपन्न हो जाने पर गोपियाँ सुख का अनुभव करती हुई सोचती हैं-

जो हम साध करति अपने मन सो सुख पायो नीके

दानलीला और पनघट लीला में संयोग-श्रृंगार का शरीर-विलास आरंभ होता है । मन और शरीर के इस आदान-प्रदान में मुरली न केवल 'दूती' का कार्य करती है, वरन् उद्दीपन का कार्य भी करती है ।

इस विधि से मन के साथ शरीर कृष्ण के अर्पण हुआ, मुरली ने मन और शरीर में एक अनोखी उमंग भर दी, मन नाचने लगा, तो शरीर बिना नृत्य किये कैसे रहे । नृत्य शरीरावयवी कला-विलास का श्रेष्ठतम और उच्चतम रूप है—इसी नृत्य की परिणति रास में हुई ।

गोपियों के प्रेम अथवा रतिभाव की रास में परिणति हुए बिना कृष्ण-गोपी भाव की उपलब्धि पूर्ण नहीं हो सकती थी । गोपियों के इस

व्यवहार में ही तो प्रेम की "अमर्यादा" का वास्तविक संदेश है—मुरली-ध्वनि में सुधि विसरा कर सर्वस्व समर्पण के लिए सन्नद्ध गोपिकायें जब कृष्ण के पास विह्वल आ पहुँचीं तो कृष्ण ने उन्हें मर्यादा का उपदेश दिया —

यह युवतिन कौ धर्म न होई

घृत सो नारि पुरुष जो त्यागैं———

किन्तु गोपियाँ तो मर्यादा त्याग चुकी थीं—तब कृष्ण ने उनकी यथार्थ महानता प्रकटे की—

श्याम हँसि बोले प्रभुता डारि

तुम सन्मुख मैं विमुख तुम्हारौ मैं असाध तुम साध,

गोपियों के इस शृंगार रस प्रतिपादन का महत्व इसी 'अमर्यादा' की स्थापना की दृष्टि से है। किन्तु शृंगार रस की उत्कृष्टता एक नायक के अवलम्ब-आश्रय और एक नायिका के आश्रय-अवलम्ब में जितनी उभरती है, उतनी उस स्थिति में नहीं जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, अतः सूरदास जी ने 'राधा' की उद्भावना की ओर 'राधा' के प्रेम और रति के लिए गोपिकाओं की इस समस्त शृंगार रस लीला को पृष्ठ-भूमि का रूप दे डाला । सूरदास इस देन में एकदम महान और अन्यतम हो गये । गोपियों की इस पृष्ठभूमि में राधा का प्रेम अनोखे ढंग से अंकुरित, पल्लवित और फलित हुआ है । गोपियों के प्रेमसागर के मन्थन में से जैसे राधा प्रेम-रस रूपी लक्ष्मी की भाँति अवतीर्ण हुई दीखती है।

राधा अनायास ही व्रज की गलियों में आ जाती है, कृष्ण की उन पर दृष्टि पड़ती है और कृष्ण उन पर रीझ जाते हैं:—

खेलन हरि निकसे व्रज खोरी

गये स्याम रवितनया के तट अंग लसति चंदन की खोरी।

औचक ही देखी तहाँ राधा नयन विशाल, भाल दिये रोरी,

नील वसन, फरिया कटि पहिरे, वेनी पीठि रुचिर झकझोरी

संग लरिकिनी चलि इति आवति दिन थोरी अति छवि जन गोरी
सूर, श्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगौरी।

तब कृष्ण ने राधा से पूछा—

बूझत स्याम—कौन तू गोरी ?
कहाँ रहति ? काकी है बेटी ? देखी नहीं कबहुँ ब्रज खोरी ?

तो राधा उत्तर देती है —

काहे को हम व्रजतन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी,
सुनति रहति श्रवणनि नन्द ढोटा, करत रहत माखन दधि चोरी।

इस 'माखन-दधि चोरी' की मार्मिक चोट से मर्माहत कृष्ण बड़ी युक्ति से राधा से कहते हैं:

तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ संग मिलि जोरी
सूरदास, प्रभु रसिक-सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी।

और इस प्रथम संभापण और मिलन के उपरान्त तो भोरी राधिका और भोरे कृष्ण शृंगार लीला में दक्ष हो गये। "प्रथम सनेह दुहुँन मन जीत्यो" यह प्रथम स्नेह धीरे-धीरे प्रगाढ़ और गूढ़ होता गया —

राधा का यह प्रेम स्वकीयात्व प्रेम है, और अन्त में रासलीला के उपरान्त राधा-कृष्ण-विवाह में सफल होता है। संयोग का पूर्ण सुख रास-रति-क्रीड़ा में सोलहों कलाओं से जगमगा उठता है।

शृंगार रस की भावना का उदय वात्सल्य के सहारे कराके उसकी रति की भूमि को अनोखा रंग इस कवि ने प्रदान कर दिया है। वयसंधि की जो झिलमिलाहट नायक अथवा नायिका में धूप-छाँह की भाँति दिखायी पड़ती है, वही 'वात्सल्य" और "शृंगार तथा 'लरिकाई' और 'तरुनाई' की झिल-मिलाहट सूर ने अपने शृंगार-रस के आरंभ में प्रविष्ट कर दी है। सकुचना, झिझकना, अर्द्ध-स्फुट, आवृत्त-अनावृत्त कृष्ण-गोपी और राधा का यह रतिभाव उग्र, उदग्र और उद्दाम हो जाता है, और 'लोकलाज, कुल-कानि

तथा मर्यादा' के बंधनों को तोड़ कर प्रवाहित हो उठता है। संयोग-शृंगार के इस परिपाक में आरंभ चांचल्य से करके अन्त रास की अनन्त गंभीर राशि में होता है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस अमर्यादित गोपी-प्रेम की पृष्ठभूमि में उदित राधा-कृष्ण का वह अनन्य स्वकीया प्रेम जहाँ संयोग-शृंगार का संदेश है, वहाँ संयोग के उपरान्त होने वाले विरह का वर्णन, अपनी सूक्ष्म-वर्णना के साथ रस का आनन्द प्रदान करता हुआ सगुण और निर्गुण के द्वंद को उपस्थित कर सगुण की विजय घोपित करता है।

वास्तविक बात यह है कि बिना विरह के शृंगार-रसान्तर्गत संयोग का न तो पूर्ण आस्वाद ही मिलता है, न उसका मूल्य ही आँका जा सकता है। 'रति' की आध्यात्मिक परिणति वियोग-विरह के द्वारा ही होती है। राधा और गोपी का विरह अनन्त होना चाहिए, और अनन्त ही है, पर सूर ने शृंगार-रस की भारतीय उपलब्धि के मार्ग को उच्छिन्न नहीं होने दिया, परकीया की भूमि पर स्वकीया की मधुर भव्य मूर्ति की स्थापना करके शृंगार रस की अमर्यादा की आंतरिक मर्यादा पर जहाँ उन्होंने अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाये हैं, वहीं अनन्त विरह की आन्तरिक भावभूमि की स्थिरता दिखाते हुए प्रतीक बन अन्तिम राधा-कृष्ण मिलन का दृश्य अंकित करके अपनी काव्य-कला के भाव-सौंदर्य को स्वर्ण-मुकुट से अभिपिक्त कर दिया है।

इस प्रकार शृंगार रस की इस प्रेममयी अवतारणा का कवि ने यवनिका-पात कराया। पाठक ने कृष्ण-गोपी और राधा-कृष्ण की 'रति' के भाव पर परिपक्व इस शृंगार रस का आस्वाद भक्त की भाँति किया—शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों से संबंध रखने वाली समस्त दशाओं, अवस्थाओं, स्थितियों में होकर उसका मन गया, कृष्ण और गोपी तथा राधा-कृष्ण के अन्तर-मन के समस्त उद्वेलनों को उसने देखा, उनकी वाह्य अभिव्यंजनाओं में होकर भी उसने मार्ग निकाला और अन्त में शृंगार-रस की अनन्त शक्ति से उसका मन तपकर कंचन की भाँति जगमगाता

हुआ भक्ति-भाव की पवित्रता से अभिमंडित हो गया ।

सूरदास नियोजित इस शृंगार रस के नियोजन को न तो कृष्ण का परिणाम कहा जा सकता है, न उसमें रेचन (कैथारसिस) का भाव है, वह किसी भी पदार्थ भाव से व्याख्या का विषय नही बन सकता । सूर के इस शृंगार रस के प्रतिपादन का एक ही मूल रहस्य विदित होता है कि इस महाकवि ने इस रस की मौलिकता, महानता और पावनता की जो अनुभूति प्राप्त की, उसीका साक्षात्कार स्थूल शरीरी-सौंदर्य को काव्य-शक्ति से विदीर्ण करके गहन पैठ द्वारा करा दिया । यह काम-भाव जो प्रपंचपूर्ण जगत में इतना प्रवल प्रतीत होता है और इतनी विगर्हणा का विषय बना हुआ है कि भारत में वैराग्य प्रवृत्ति ने जन-जन के मानस को आक्रांत कर रखा है, वह काम भाव मूलतः क्या प्रकृति और प्रपंच अथवा जगन्मिथ्या का परिणाम है। "नही", सूर कहते है, "इसके मूल में ब्राह्मी पावकता है। जो उसके मर्म को समझ लेता है, उसका रति-भाव-विकार शुद्ध काम-भाव में परिणति पाकर भक्ति अथवा ब्रह्म की इच्छा को ब्रह्म मे समर्पित कर देने वाला हो जाता है ।"